# कसायपाहुडसुत्त अर्थात् जयधवल सिद्धान्त

श्री. हिरालाल सिद्धान्त शास्त्री, ब्यावर

आचार्य श्री गुणधरस्वामी के द्वारा रचित 'कसायपाहुड सुत्त' लगभग एक हजार वर्ष से 'जयधवल सिद्धान्त' इन नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः वीरसेनाचार्य ने 'कसायपाहुडसुत्त' और उस पर रचित यति वृषभाचार्य के चूर्णि सूत्रों को आधार बनाकर जो जयधवला टीका रची, वही उसके कारण यह ग्रन्थ 'जयधवलसिद्धान्त' के नाम से प्रख्यात हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् पुष्पदन्त ने अपने अपभ्रंश भाषा में रचित महापुराण के प्रारम्भ में अपनी लघुता का परिचय देते हुए लिखा है—

**'ण उ जाणमि आगमु सद्द धामु, सिद्धन्तु धवलु जयधवलु णामु।'**

अर्थात् 'मैं धवलसिद्धान्त और जयधवलसिद्धान्त जैसे आगम ग्रन्थों को नहीं जानता।'

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'षट्खण्डागम' पर धवला टीका रचे जाने के बाद वह 'धवलसिद्धान्त' नाम से और 'कषायपाहुड' पर जयधवला टीका रचे जाने के बाद वह 'जयधवलसिद्धान्त' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए चले आरहे हैं।

भ. महावीर के जिन उपदेशों को उनके प्रधान शिष्यों ने—जिन्हें साधुओं के विशाल गणों और संघ को धारण करने, उनको शिक्षा-दीक्षा देने एवं सार-संभाल करने के कारण गणधर कहा जाता था—संकलन करके अक्षर-निबद्ध किया; वे उपदेश 'द्वादशाङ्गश्रुत' के नाम से संसार में विश्रुत हुए। यह द्वादशाङ्गश्रुत कई शताब्दियों तक आचार्य परम्परा के द्वारा मौखिक रूप से सर्वसाधारण में प्रचलित रहा। किन्तु कालक्रम से जब लोगों की ग्रहण और धारणा शक्ति का ह्रास होने लगा, तब श्रुत-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर कुछ विशिष्ट ज्ञानी आचार्यों ने उस विस्तृत श्रुत के विभिन्न अंगों का उपसंहार करके उसे गाथा सूत्रों में निबद्धकर सर्वसाधारण में उनका प्रचार जारी रखा। इस प्रकार के उपसंहृत एवं गाथासूत्र-निबद्ध जैन वाङ्मय के भीतर अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि कषायपाहुड ही सर्वप्रथम निबद्ध हुआ है।

भ. महावीर की द्वादशाङ्गी वाणी में बारहवां अंग अति विस्तीर्ण है। इस अंग के पांच भेदों में एक पूर्वगत भेद है। उसके भी उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। उनमें ज्ञान-प्रवाह नामका पांचवां पूर्व है। इसके भी वस्तु नामक बारह अवान्तर अधिकार है। उनमें भी दसवीं वस्तु के अंतर्गत 'पाहुड' नाम



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के वीस अर्थाधिकार हैं। उनमें से तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्जदोस पाहुड' है। इसे गौतम गणधरने सोलह हजार मध्यम पदों में रचाया, जिनके अक्षरों का परिमाण दो कोडाकोडी, इकसठ लाख, सत्तावनहजार दो सौ बानवे करोड, बासठ लाख आठ हजार था। इतने महान् विस्तृत पेज्जदोस पाहुड का सार गुणधराचार्य ने केवल २३३ गाथाओं में निबद्ध किया, इससे ही प्रस्तुत ग्रंथ की महत्ता को आंका जा सकता है।

आचार्य गुणधर के इस 'कसाय पाहुड' की रचना अति संक्षिप्त एवं बीज पदरूप थी और उसका अर्थबोध सहज गम्य नहीं था। अतः उसके ऊपर सर्वप्रथम आ. यतिवृषभ ने छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि सूत्र रचे। चूर्णिकार ने अनेकों अनुयोगों का व्याख्यान न करके 'एवं णेदव्वं', या 'मणिदव्वं' कहकर व्याख्याताचार्यों के लिए संकेत किया कि इसी प्रकार वे शेष अनुयोगों का परिज्ञान अपने शिष्यों को करावें। यतिवृषभ के ऐसे संकेतिक स्थलों के स्पष्टीकरणार्थ उच्चारणाचार्य ने बारह हजार श्लोक प्रमाण उच्चारण वृत्ति का निर्माण किया। फिर भी अनेक स्थलों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता था, अतः शामकुण्डाचार्य ने अडतालीस हजार श्लोक प्रमाण पद्धति नाम की टीका और तुम्बुलूचार्य ने चौरासी हजार श्लोक प्रमाण चूडामणि नाम की टीका रची। आ. वीरसेन–जिनसेन ने उपर्युक्त टीकाओं को हृदयंगम करके साठ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका रची है। जो आज उपलब्ध, ताम्रपत्रोत्कीर्ण एवं हिंदी अनुवाद के साथ प्रकाशित है। पद्धति और चिन्तामणि ये दोनों टीकाएं आज अनुपलब्ध हैं। गुणधराचार्य की सूत्र गाथाओं की गहनता को देखकर वीरसेनाचार्य ने **'एदा ओ अणंतत्थगब्भियाओ'** कहकर उन्हें अनन्त अर्थ से गार्भित कहा है।

कसाय पाहुड के १५ अधिकार हैं। इनके विषय में गुणधर यतिवृषभ और वीरसेन के मत से थोडा मतभेद है जो इस प्रकार है।

| संख्या | गुणधर–सम्मत | यतिवृषभ–सम्मत | वीरसेन–सम्मत |
|---|---|---|---|
| १ | पज्जदोस विभक्ति | पेज्जदोस विभक्ति | पेज्जदोस विभक्ति |
| २ | स्थिति विभक्ति | स्थिति अनुभाग विभक्ति (प्रकृति-प्रदेश विभक्ति क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक) | प्रकृति विभक्ति |
| ३ | अनुभाग विभक्ति | बन्ध | स्थिति विभक्ति |
| ४ | बन्ध (प्रदेश विभक्ति क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक) | संक्रम | अनुभाग विभक्ति |
| ५ | संक्रम | उदय | प्रदेश विभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| संख्या | गुणधर–सम्मत | यतिवृषभ–सम्मत | वीरसेन–सम्मत |
|---|---|---|---|
| ६ | वेदक | उदीरणा | बन्धक |
| ७ | उपयोग | उपयोग | वेदक |
| ८ | चतुःस्थान | चतुःस्थान | उपयोग |
| ९ | व्यञ्जन | व्यञ्जन | चतुःस्थान |
| १० | दर्शन मोहोपशामना | दर्शन मोहोपशामना | व्यञ्जन |
| ११ | दर्शन मोहक्षपणा | दर्शन मोहक्षपणा | सम्यक्त्व |
| १२ | संयमासंयमलब्धि | देश विरति | देश विरति |
| १३ | चारित्रलब्धि | चारित्र मोहोपशामना | संयमलब्धि |
| १४ | चारित्र मोहोपशामना | चारित्र मोहक्षपणा | चारित्र मोहोपशामना |
| १५ | चारित्र मोहक्षपणा | अद्धापरिमाण निर्देश | चारित्र मोहक्षपणा |

यदि पाठक गहराई से देखेंगे, तो यह अधिकार–भेद एक तो अद्धापरिमाणनिर्देश को लेकर है। वीरसेनाचार्य का कहना है कि यतः यह अधिकार सभी अधिकारों से संबद्ध है, अतः उसे अलग अधिकार मानने की आवश्यकता नहीं है। दूसरा मतभेद प्रकृति विभक्ति आदि को स्वतंत्र अधिकार न मानने की अपेक्षा से है। तीसरा मतभेद वेदक वेदक अधिकार जो स्वतंत्र या उदय उदीरणा के रूप में विभक्त कर मानने का है। यद्यपि उस भेदों के कारण क्रम संख्या में कुछ ऊंचानीचापन दृष्टिगोचर होता है, तथापि वस्तुतः तत्त्वविवरण की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

अब यहां पर उपर्युक्त अधिकारों का विषय–परिचय कराने के पूर्व जैन दर्शन के मूलभूत जीव और कर्म तत्त्व को जान लेना आवश्यक है। यह तो सभी आस्तिक मतवाले मानते हैं की यह जीव अनादि काल से संसार में भटक रहा है और जन्म–मरण के चक्कर लगाते हुए नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्टों को भोग रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि जीव के इस संसार परिभ्रमण का कारण क्या है? सभी आस्तिक वादियों ने इस प्रश्न के उत्तर देने का प्रयास किया है। कोई संसार परिभ्रणम का कारण अदृष्ट को मानता है, तो कोई अपूर्व दैव, वासना, योग्यता आदि को बदलाता है। कोई इसका कारण पुरातन कर्मों को कहता है, तो कोई यह सब ईश्वर–कृत मानकर उक्त प्रश्न का समाधान करता है। पर तत्त्व–चिन्तकों ने काफी ऊहापोह के बाद यह स्थिर किया कि जब ईश्वर जगत् का कर्ता ही सिद्ध नहीं होता, तब उसे संसार–परिभ्रमण का कारण भी नहीं माना जा सकता, और न उसे सुख–दुःख का दाता ही मान सकते हैं। तब पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यह अदृष्ट, दैव, कर्म आदि क्या वस्तु हैं? संक्षेप में यहां पर उनका कुछ विचार किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैयायिक-वैशेषिक लोग अदृष्ट को आत्मा का गुण मानते हैं। उनका कहना है कि हमारे किसी भी भले या बुरे कार्य का संस्कार हमारी आत्मा पर पडता है और उससे आत्मा में अदृष्ट नाम का गुण उत्पन्न होता है। यह तब तक आत्मा में बना रहता है जब तक कि हमारे भले या बुरे कार्य का फल हमें नहीं मिल जाता है।

सांख्य लोगों का कहना है कि हमारे भले बुरे कार्यों का संस्कार जड प्रकृति पर पडता है और इस प्रकृतिगत संस्कारसे हमें सुख-दुःख मिला करते हैं।

बौद्धों का कहना है कि हमारे भले-बुरे कार्योंसे चित्तमें वासनारूप एक संस्कार पडता है, जो कि आगामी काल में सुख-दुःख का कारण होता है।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों का इस विषय में प्रायः एक मत है कि हमारे भले-बुरे कार्यों से आत्मा में एक संस्कार पडता है और यही हमारे सुख-दुःख, जीवन-मरण और संसारपरिभ्रमण का कारण है। परन्तु जैन दर्शन कहता है कि जहां इस जीवके भले-बुरे विचारों से आत्मा में संस्कार पडता है, वहां उसके साथ ही एक विशेष जाति के सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओं का आत्माके साथ सम्बन्ध भी होता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की ९५ वीं गाथा में कहा है कि जब रागद्वेष से युक्त आत्मा शुभ या अशुभ कार्य में परिणत होता है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादि भावों से परिणत होकर आत्मा में प्रविष्ट करती है और आत्मा के साथ बन्धकर कालान्तर में सुख या दुःखरूप फल को देती है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि संसार के परिभ्रमण और सुखदुःख देने का कारण कर्मबन्ध है और कर्म-बन्ध का कारण रागद्वेष है। राग-द्वेष का दूसरा नाम प्रेयोद्वेष या कषाय है इसीलिए इस ग्रन्थ के दोनों नामों का उल्लेख मूल ग्रन्थकार गुणधराचार्य ने और चूर्णिकार यति वृषभाचार्य ने किया है।

## कर्म का स्वरूप और कर्म-बन्ध के कारण

'कर्म' शब्दकी निरुक्ति के अनुसार जीव के द्वारा की जानेवाली भली या बुरी क्रिया को कर्म कहते हैं। ईसका खुलासा यह है कि संसारी जीवकी प्रति समय जो मन वचन कायकी परिस्पन्द (हलन चलन) रूप क्रिया होती है उसे योग कहते हैं। इस योग-परिस्पन्द से सूक्ष्मकर्म-परमाणु जो सारे लोक में सघनरूप से भरे हुए हैं। आत्मा की ओर आकृष्ट होते है और आत्मा के राग-द्वेषरूप कषाय भावों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ संबद्ध हो जाता है। कर्म परमाणुओं का आत्मा के भीतर आना आस्रव कहलाता है और उनका आत्मा के प्रदेशों के साथ बन्ध जाना बन्ध कहलाता है। कर्मों के आस्रव के समय यदि कषाय तीव्र होगी तो आस्रव बन्धनेवाले कर्मों की स्थिति भी लम्बी होगी और रस-परिपाक भी तीव्र होगा। यद्यपि इसमें कुछ अपवाद हैं, तथापि यह एक साधारण नियम है।

**बन्ध के भेद**—इस प्रकार योग और कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का जो बन्ध होता है, वह चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम स्वभाव का है। आनेवाले कर्म परमाणुओं के भीतर जो आत्मा के ज्ञान-दर्शनादिक गुणों के घातने या आवरण करने का स्वभाव पडता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। स्थिति नाम काल की मर्यादा का है। कर्म परमाणुओं के आने के साथ ही उनकी स्थिति भी निश्चित हो जाती है कि ये कर्म अमुक समय तक आत्मा के साथ बन्धे रहेंगे। इसी का नाम स्थितिबन्ध है। कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म परमाणुओं में आने के साथ ही तीव्र या मन्द फल को देने की शक्ति भी पड जाती है, इसे ही अनुभाग बन्ध कहते हैं। आनेवाले कर्म-परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ बन्धना प्रदेशबन्ध है। इन चारों प्रकार के बन्धोंमें से प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण योग है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध का कारण कषाय है।

**मूलकर्म आठ हैं**—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। यद्यपि सातवें गुणस्थान तक सभी कर्मों का सदा बन्ध होता है, पर आयु कर्म का सिवाय त्रिभाग के अन्य समय में बन्ध नहीं होता है। इन आठों कर्मों में जो मोहनीय कर्म है, वह राग, द्वेष और मोह का जनक होने से सर्व कर्मों का नायक माना गया है, इसलिए सबसे पहले उसके दूर करने का ही महर्षियों ने उपदेश दिया है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शन मोह कर्म जीव को अपने स्वरूप का यथार्थ दर्शन नहीं होने देता, प्रत्युत अनात्म स्वरूप बाह्य पदार्थों में मोहित रखता है। मोहका दूसरा भेद जो चारित्र मोह है, उसके उदय से जीव सांसारिक वस्तुओं में से किसी को अपने अनुकूल जानकर उसमें राग करता है और किसी को बुरा जानकर उससे द्वेष करता है। लोक में प्रसिद्ध क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषाय इसी कर्म के उदय से होते हैं। इन चारों कषायों को राग और द्वेष में विभाजित किया गया है। यद्यपि चूर्णिकार ने नाना नयों की अपेक्षा कषायों का विभाजन राग-द्वेष में विस्तार से किया है, पर मोटे तौर पर क्रोध और मान कषाय को द्वेषरूप माना है क्यों कि इनके करने से दूसरों को दुःख होता है। तथा माया और लोभ को रागरूप माना है, क्यों कि इन्हें करके मनुष्य अपने भीतर सुख, आनंद या हर्ष का अनुभव करता है।

प्रस्तुत कषायपाहुड ग्रन्थ में पूर्वोक्त १५ अधिकारों के द्वारा मोहनीय कर्म के इन ही राग, द्वेष, मोह, बन्ध, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशमन और क्षपण आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहांपर उनका संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

**१. प्रेयो-द्वेष-विभक्ति**—किस किस नय की अपेक्षा किस किस कषाय में प्रेय (राग) या द्वेष का व्यवहार होता है? अथवा कौन नय किस द्रव्य में द्वेष को प्राप्त होता है और कौन नय किस द्रव्य में प्रिय (राग) भाव को प्राप्त होता है? इन आशंकाओं का समाधान किया गया है कि नैगम और संग्रह नय की अपेक्षा क्रोध द्वेषरूप है, मान द्वेषरूप है। किन्तु माया प्रेयरूप है और लोभ प्रेयरूप है। व्यवहार नय की अपेक्षा क्रोध, मान, माया, ये तीन कषाय द्वेषरूप हैं और लोभ कषाय रागरूप है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा क्रोध द्वेषरूप है, मान नो-द्वेष नो-रागरूप है, माया नो-द्वेष नो-रागरूप है और लोभ रागरूप है। शब्द नयों की अपेक्षा चारों कषाय द्वेषरूप है, तथा क्रोध, मान, माया कषाय नो-रागरूप है और लोभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यात् रागरूप है। यह जीव परिस्थितिवश कभी सभी द्रव्यों में द्वेषरूप व्यवहार करता है और कभी सभी द्रव्यों में रागरूप भी आचरण करता है।

इन राग द्वेषरूप चारों कषायों का बारह अनुयोग द्वारों से विवेचन किया गया है—एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग, विचय, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन सभी अनुयोगों द्वारा राग-द्वेष का विस्तृत विवरण जयधवला टीका में किया गया है। यहां काल की अपेक्षा दिङ्मात्र सूचन किया जाता है की सामान्य की अपेक्षा राग द्वेष दोनों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। पर विशेष की अपेक्षा दोनों का जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

**२. प्रकृति-विभक्ति**— प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल एक मोहनीय कर्म का ही वर्णन किया गया है। अतः गुणस्थानों की अपेक्षा जो मोह कर्म अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौवीस, तेईस, बाईस, इक्कीस, तेरह, बारह, ग्यारह, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप पन्द्रह सत्त्वस्थान हैं। उनका वर्णन इस प्रकृति विभक्ति में एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल और अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, अल्प बहुत्व भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि इन तेरह अनुयोग द्वारों से किया गया है। जैसे अट्ठाईस प्रकृति सत्त्वस्थान का स्वामी सादि मिथ्या दृष्टि जीव है। छब्बीस प्रकृतिक स्थान का स्वामी अनादि मिथ्या दृष्टि और सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना करने वाला सादि मिथ्या दृष्टि जीव है। चौवीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान का स्वामी अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का विसंयोजक जीव होता है। इक्कीस प्रकृतिक सत्त्व स्थान का स्वामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी सभी सत्त्वस्थानों का विस्तृत वर्णन इस विभक्ति में किया गया है।

**३. स्थिति-विभक्ति**—इस अधिकार में मोह कर्म की सभी प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन अनेक अनुयोग द्वारों से किया गया है। जैसे मोहनीय कर्म की सत्तर कोडा कोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का जघन्य काल एक समय है और लगातार उत्कृष्ट स्थिति बांधने का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। अनुत्कृष्ट बन्ध का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अनन्त काल है। जघन्य स्थिति के बन्ध का जघन्य काल और उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है। अजघन्य बन्ध का काल अनादि-अनन्त (अभव्यों की अपेक्षा) तथा (भव्यों की अपेक्षा) अनादि सान्त काल है। परिमाण की अपेक्षा एक समय में मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के विभक्ति वाले जीव असंख्यात हैं। अनुत्कृष्ट स्थिति के विभक्तिक जीव अनन्त हैं। जघन्य स्थिति के विभक्तिक जीव संख्यात हैं और अजघन्य स्थिति के विभक्तिक जीव अनन्त हैं। इस प्रकार स्वामित्व, क्षेत्र, स्पर्शन आदि २४ अनुयोग द्वारों के द्वारा मोह कर्म की स्थिति विभक्ति का वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

**४. अनुभाग-विभक्ति**—आत्मा के साथ बंधनेवाले कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। बन्ध के समय कषाय जैसी तीव्र या मन्द जाति की हो, तदनुसार ही उसके फल देने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति भी तीव्र या मन्दरूप में पडती है। यतः मोहकर्म पापरूप ही है। अतः उसका अनुभाग नीम, कंजी, विष और हलाहल के तुल्य जघन्य या मन्द स्थान से लेकर तीव्र उत्कृष्ट स्थान तक उत्तरोत्तर अधिक कटुक विपाकवाला होता है। मोहकर्म के इस अनुभाग का वर्णन 'संज्ञा' सर्वानुभाग विभक्ति, नोसर्वानुभाग-विभक्ति आदि २७ अनुयोग द्वारों से किया गया है। जैसे संज्ञानुयोगद्वार की अपेक्षा मोहकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभाग सर्व घाती भी होता है और देशघाती भी होता है। जघन्य अनुभाग देशघाती होता है और अजघन्य अनुभाग देशघाती भी होता है और सर्वघाती भी होता है। स्वामित्वानुयोग द्वार की अपेक्षा मोहकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, साकार एवं जागृत उपयोगी, उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाला ऐसा किसी भी गति का मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर जब तक उसका घात नहीं करता है, तब तक वह उसका स्वामी है। मोहकर्म के जघन्य अनुभाग का स्वामी दशम गुणस्थान के अन्तिम समय में विद्यमान क्षपक मनुष्य है। परिमाणानुयोग द्वार की अपेक्षा मोहकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग विभक्तिवाले जीव असंख्यात हैं। अनुत्कृष्ट विभक्तिवाले अनन्त हैं। जघन्य विभक्तिवाले संख्यात हैं और अजघन्य विभक्तिवाले अनन्त जीव हैं। इस प्रकार शेष अनुयोगद्वारों की अपेक्षा मोहकर्म की अनुभाग विभक्ति का विस्तृत वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

५. **प्रदेश विभक्ति**—प्रतिसमय आत्मा के भीतर आनेवाले कर्म परमाणुओं का तत्काल सर्व कर्मों में विभाजन होता जाता है। उसमें से जितने कर्म प्रदेश मोहकर्म के हिस्से में आते हैं उनका भी विभाग उसके उत्तरभेद प्रभेदों में होता है। मोहकर्म के इस प्रकार के प्रदेश सत्व का वर्णन इस अधिकार में २२ अनुयोग द्वारों से गयी किया है। जैसे स्वामित्व की अपेक्षा पूछा गया कि मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेश सत्व किसके होता है? उत्तर—जो जीव बादर पृथ्वीकायिकों में साधिक दो सहस्र सागरोपम से न्यून कर्मस्थिति प्रमाण काल तक अवस्थित रहा। वहांपर उसके पर्याप्त भव अधिक और अपर्याप्त भव अल्प हुए। पर्याप्तकाल दीर्घ रहा और अपर्याप्त काल अल्प रहा। बार—बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त हुआ और बार—बार अतिसंक्लेश परिणामों को प्राप्त हुआ इस प्रकार परिभ्रमण करता हुआ वह बादरकायिक जीवों में उत्पन्न हुआ। उनमें परिभ्रमण करते हुए उसके पर्याप्तभव अधिक और अपर्याप्तक भव अल्प हुए पर्याप्त काल दीर्घ और अपर्याप्त काल ह्रस्व रहा। वहां पर भी बार—बार उत्कृष्ट योगस्थानों को और अति संक्लेश को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से संसार में परिभ्रमण करके वह सातवीं पृथ्वी के नारकों में तेतीस सागरोपम स्थिति का धारक नारकी हुआ वहां से निकलकर वह पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ और वहां अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहकर मरण करके पुनः तेतीस सागरोपम आयुवाले नारकों में उत्पन्न हुआ। वहां उसके तेतीस सागरोपम बीतने के बाद अन्तिम अन्तर्मुहूर्त के समय में वर्तमान होनेपर मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। मोहकर्म की जघन्य प्रदेश विभक्ति उपर्युक्त विधान से निकलकर मनुष्य होकर क्षपक श्रेणीपर चढे हुए चरम समयवर्ती सूक्ष्म साम्पराय संयत के होती है।

वीरसेनाचार्य ने प्रदेश विभक्ति के अन्तर्गत क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक ये दो अधिकार कहे हैं। जिनका वर्णन इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**क्षीणाक्षीणाधिकार**—किस स्थिति में अवस्थित कर्म-प्रदेश उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य या अयोग्य होते हैं, इसका विवेचन इस अधिकार में किया गया है। कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग के बढनेको उत्कर्षण, घटने को अपकर्षण और अन्य प्रकृति रूपसे परिवर्तित होने को संक्रमण कहते हैं। सत्तामें अवस्थित कर्म का समय पाकर फल देने को उदय कहते हैं। जो कर्म प्रदेश उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य होते हैं, उन्हें क्षीण स्थिति कहते हैं और जो इन के योग्य नहीं होते हैं उन्हें अक्षीण स्थितिक कहते हैं। इन दोनों का प्रस्तुत अधिकार में अन्यत्र दुर्लभ बहुत सूक्ष्म वर्णन है।

**स्थित्यन्तिक**—अनेक प्रकार की स्थिति प्राप्त होनेवाले कर्म परमाणुओं को स्थितिक या स्थित्यन्तिक कहते हैं। ये स्थिति-प्राप्त कर्म प्रदेश उत्कृष्ट स्थिति, निषेक स्थिति, यथानिषेक स्थिति और उदय स्थिति के भेदसे चार प्रकार के होते हैं। जो कर्म बंधन के समय से लेकर उस कर्म की जितनी स्थिति है, उतने समय तक सत्ता में रह कर अपनी स्थिति के अन्तिम समय में उदय को प्राप्त होता है, उसे उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। जो कर्म प्रदेश बन्ध के समय जिस स्थिति में निक्षिप्त किया गया है, तदनन्तर उसका उत्कर्षण या अपकर्षण होने पर भी उसी स्थिति को प्राप्त होकर जो उदय काल में दिखाई देता है, उसे निषेक स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। बन्ध के समय जो कर्म जिस स्थिति में निक्षिप्त हुआ है, वह यदि उत्कर्षण और अपकर्षण न होकर उसी स्थिति के रहते हुए उदय में आता है, तो उसे यथा-निषेक स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। जो कर्म जिस किसी स्थिति प्राप्त होकर उदय में आता है, उसे उदय स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। प्रकृत अधिकार में इन चारों ही प्रकारों के कर्मों का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

**६. बन्धक और संक्रम अधिकार**—जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप से परिणत होकर जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर बन्धने को बन्ध कहते हैं। बन्ध के चार भेद हैं, प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध। यतः प्रकृति विभक्ति आदि पूर्वोक्त चारों विभक्तियां इन चारों प्रकार के बन्धाश्रित ही हैं। अतः इस बन्ध पर मूलगाथाकार और चूर्णि सूत्रकार ने केवल उनके जानने मात्र की सूचना की है और जयधवलाकार ने यह कह कर विशेष वर्णन नहीं किया है कि भूतबली स्वामी ने महाबन्ध में विविध अनुयोग द्वारों से बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है, अतः जिज्ञासुओं को वहां से जानना चाहिए।

**संक्रम अधिकार**—बन्धे हुए कर्मों का यथा संभव अपने अवान्तर भेदों में संक्रान्त या परिवर्तित होने को संक्रम कहते हैं। बन्ध के समान संक्रम के भी चार भेद हैं १. प्रकृति संक्रम, २. स्थिति संक्रम, ३. अनुभाग संक्रम, ४. प्रदेश संक्रम। एक कर्म प्रकृति के दूसरी प्रकृति रूप होने को प्रकृति संक्रम कहते हैं। जैसे सातावेदनीय का असातावेदनीय रूप से परिणत हो जाना। विवक्षित कर्म की जितनी स्थिति पड़ी थी परिणामों के वश से उसके हीनाधिक होने को, या अन्य प्रकृति की स्थिति रूप से परिणत हो जाने को स्थिति संक्रम कहते हैं। साता वेदनीय आदि जिन प्रकृतियों में जिस जाति के सुखादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देने की शक्ति थी उसेक हीनाधिक होने, या अन्य प्रकृति के अनुभाग रूप से परिणत होने को अनुभागसंक्रम कहते है। विवक्षित समय में आये हुए कर्म-परमाणुओं में से विभाजन के अनुसार जिस कर्म-प्रकृति को जितने प्रदेश मिले थे, उनके अन्य प्रकृति-गत-प्रदेशों के रूप से संक्रात होने को प्रदेश संक्रमण कहते है इस अधिकार में मोहकर्म की प्रकृतियों के उक्त चारों प्रकार के संक्रम का अनेक अनुयोग द्वारों से बहुत विस्तृत एवं अपूर्व विवेचन किया गया है।

**७. वेदक अधिकार**—इस अधिकार में मोहकर्म के वेदन अर्थात फलानुभवन का वर्णन किया गया है। कर्म अपना फल उदय से भी देते है और उदीरणा से भी देते हैं। स्थिति बन्ध के अनुसार नियत समय पर कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। तथा उपाय विशेष से असमय में ही निश्चित समय के पूर्व फल देने को उदीरणा कहते हैं। जैसे शाखा में लगे हुए आम का समय पर पक कर गिरना उदय है। तथा स्वयं पकने के पूर्व ही उसे तोडकर पाल आदि में रखकर समय से पूर्व ही पका लेना उदीरणा है। ये दोनों ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार चार प्रकार के हैं। इन सब का इस अधिकार में अनेक अनुयोगद्वारों से बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है।

**८. उपयोग-अधिकार**—जीव के क्रोध, मान, मायादि रूप परिणामों के होने को उपयोग कहते हैं। इस अधिकार में चारों कषायों के उपयोग का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है, कि एक जीव के एक कषाय का उदय कितने काल तक रहता है, किस गति के जीव के कौनसी कषाय बार-बार उदय में आती है, एक भव में एक कषाय का उदय कितने बार होता है और एक कषाय का उदय कितने भवों तक रहता है? जितने जीव वर्तमान समय में जिस कषाय से उपयुक्त है, क्या वे उतने ही पहले उसी कषाय से उपयुक्त थे, और क्या आगे भी उपयुक्त रहेंगे? इत्यादि रूप से कषाय-विषयक अनेक ज्ञातव्य बातों का बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन इस अधिकार में किया गया है।

**९. चतुःस्थान अधिकार**— कर्मों में फल देने की शक्ति की अपेक्षा लता, दारू, अस्थि और शैलरूप चार विभाग किये गये हैं, जिन्हें क्रमशः एक स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतुःस्थान कहते है। इस अधिकार में क्रोधादि चारों कषायों के चारों ही स्थानों का वर्णन किया गया है, इस लिए इस अधिकार का नाम चतुःस्थान है। इस अधिकार में बतलाया गया है कि क्रोध चार प्रकार का होता है-पाषाण-रेखा समान, पृथ्वी रेखा समान, वालु रेखा समान और जल रेखा समान। जैसे जल में खींची हुई रेखा तुरन्त मिट जाती है और वालु, पृथ्वी एवं पाषाण में खींची गई रेखाएं उत्तरोत्तर अधिक अधिक समय में मिटती है, इसी प्रकार क्रोध कषाय के भी चार जाती के स्थान होते है, जो हीनाधिक काल के द्वारा उपशम को प्राप्त होते है। क्रोध के समान मान, माया और लोभ के भी चार चार जाति के स्थान होते हैं। इन सब का वर्णन इस अधिकार में किया गया है। इस के अतिरिक्त चारों कषायों के सोलह स्थानों में से कौनसा स्थान किस स्थान से अधिक होता है और कौन किस से हीन होता है? कौन स्थान सर्वाघाती है और कौन स्थान देशघाती है? क्या सभी जातियों में सभी स्थान होते हैं, या कहीं कुछ अन्तर है? किस



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान का अनुभवन करते हुए किस स्थान का बन्ध होता है और किस किस स्थान का बन्ध नहीं करते हुए किस स्थान का बन्ध नहीं होता ? इत्यादि अनेक सैद्धान्तिक गहन बातों का निरूपण इस अधिकार में किया गया है।

**१०. व्यञ्जन-अधिकार**—व्यञ्जन नाम पर्याय-वाची शब्द का है। इस अधिकार में क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चारों ही कषायों के पर्यायवाचक नामों का निरूपण किया गया है। जैसे-क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, कलह, विवाद आदि। मान के मान, मद, दर्प, स्तम्भ, परिभव आदि। माया के माया, निकृति, वंचना, सातियोग, अनृजुता आदि। लोभ के लोभ, राग, निदान, प्रेयस्, मूर्च्छा आदि। कषायों इन विविध नामों के द्वारा कषाय विषयक अनेक ज्ञातव्य बातों की नवीन जानकारी दी गई है।

**११. दर्शन मोहोपशमना-अधिकार**—जिस कर्म के उदय से जीव को अपने स्वरूप का दर्शन, साक्षात्कार, यथार्थप्रतीति या श्रद्धान नहीं होने पाता उसे दर्शन मोहकर्म कहते हैं। काललब्धि पाकर जब कोई संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य जीव तीनकरण-परिणामों के द्वारा दर्शन मोहकर्म के परमाणुओं का एक अन्तर्मुहूर्त के लिये अन्तररूप अभाव करके—उपशान्त दशा को प्राप्त करता है, तब उसे दर्शन मोह की उपशमना कहते हैं। दर्शन मोह की उपशमना करनेवाले जीव से कौनसा योग, कौनसा उपयोग, कौनसी कषाय, कौनसी लेश्या और कौनसा वेद होता है, इन सब बातों का विवेचन करते हुए उन अधःकरणादि परिणामों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनके कि द्वारा यह जीव अलब्ध-पूर्व सम्यक्त्व-रत्न को प्राप्त करता है। दर्शन मोह की उपशमना चारों ही गतियों के जीव कर सकते हैं, किन्तु उन्हें संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, साकारोपयोगी, जागृत, प्रवर्धनविशुद्ध परिणामी और शुभ लेश्यावाला होना चाहिए। अधिकार के अन्त में इस उपशम सम्यक्त्वी के कुछ विशिष्ट कार्यों और अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

**१२. दर्शन मोहक्षपणा-अधिकार**—ऊपर जिस दर्शन मोह की उपशम अवस्था का वर्णन किया गया है, वह अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही समाप्त हो जाती है और फिर वह जीव पहले जैसा ही आत्म-दर्शन से वंचित हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार सदा बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि उस दर्शन मोह कर्म का सदा के लिए क्षय कर दिया जावे। इसके लिए जिन खास बातों की आवश्यकता होती है, उन सब का विवेचन इस अधिकार में किया गया है। दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही कर सकता है। हां, उसकी पूर्णता चारों गतियों में की जा सकती है। दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ करने वाले मनुष्य के कम से कम तेजोलेश्या अवश्य होना चाहिए। दर्शन मोह की क्षपणा का काल अन्तर्मुहूर्त है। इस क्षपण क्रिया के पूर्ण होने के पूर्व ही यदि उस मनुष्य की मृत्यु हो जाय, तो वह अपनी पूर्व बद्ध आयु के अनुसार यथा संभव चारों ही गतियों में उत्पन्न होकर शेष क्षपण क्रिया को पूरी करता है। मनुष्य जिस भव में दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ करता है, उसके अतिरिक्त अधिक से अधिक तीन भवधारण करके संसार से मुक्त हो जाता है। इस दर्शन मोह की क्षपणा के समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधःकरणादि परिणामों को करते हुए अन्तरंग में कौन कौनसी सूक्ष्म क्रियाएं होती हैं, इनका अतिगहन और विस्तृत विवेचन इस अधिकार में किया गया है।

**१३. संयमासंयमलब्धि अधिकार**—जब आत्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और वह मिथ्यात्वरूप कर्दम (कीचड) से निकलकर बाहिर आता है, तो वह दो बातों का प्रयास करता है—एक तो यह कि मेरा पुनः मिथ्यात्व कर्दम में पतन न हो, और दूसरा यह कि लगे हुए कीचड को धोने का प्रयत्न करता है। इसके लिए एक ओर जहां वह अपने अपने सम्यक्त्व को दृढतर करता है, वही दूसरी ओर सांसारिक विषयवासनाओं से जितना भी संभव होता है अपने को बचाते हुए लगे कलिल-कर्दम को उत्तरोत्तर धोने का प्रयत्न करता है। इसीको संयमासंयमलब्धि कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के अभाव से देशसंयम को प्राप्त करनेवाले जीव के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं, उसे संयमासंयम या देशसंयम लब्धि कहते हैं। इसके निमित्त से जीव श्रावक के व्रतों को धारण करने में समर्थ होता है। इस अधिकार में संयमासंयम लब्धि के लिए आवश्यक सर्व कार्य-विशेषों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

**संयमलब्धि-अधिकार**—यद्यपि गुणधराचार्य ने संयमासंयम और संयम इन दोनों लब्धियों को एक ही गाथा में निर्दिष्ट किया है और चूर्णिकार यतिवृषभाचार्य ने संयम के भीतर ही चारित्र मोह की उपशमना और क्षपण का विधान किया है, तथापि जयधवलाकार ने संयमलब्धि का स्वतंत्र अधिकाररूप से वर्णन किया है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव होनेपर आत्मा में संयमलब्धि प्रकट होती है, जिससे आत्मा की प्रवृत्ति हिंसादि असंयम से दूर होकर संयम धारण करने की ओर होती है। संयम के धारण कर लेनेपर भी कषायों के उदयानुसार परिणामों का कैसा उतार-चढाव होता है, इस सब बात का प्रकृत अधिकार में विस्तृत विवेचन करते हुए संयमलब्धि स्थानों के भेद बतलाकर अन्त में उनके अल्पबहुत्व का वर्णन किया गया है।

**१४. चारित्र मोहोपशामना अधिकार**—चारित्र मोहकर्म के उपशम का विधान करते हुए बतलाया गया है कि उपशम कितने प्रकार का होता है, किस किस कर्म का उपशम होता है, विवक्षित चारित्र मोह-प्रकृति की स्थिति से कितने भाग का उपशम करता है, कितने भाग का संक्रमण करता है और कितने भाग की उदीरणा करता है। विवक्षित चारित्र मोहनीय प्रकृति का उपशम कितने काल में करता है, उपशम करने पर संक्रमण और उदीरणा कब करता है? उपशम के आठ करणों में से कब किस करण की व्युच्छित्ति होती है, इत्यादि प्रश्नों का उद्भावन करके विस्तार के साथ उन सब का समाधान किया गया है। अन्त में बतलाया गया है की उपशामक जीव वीतराग दशा को प्राप्त करने के बाद भी किस कारण से नीचे के गुणस्थानों में से नियम से नीचे के गुणस्थानों में गिरता है और उस समय उससे कौन कौनसे कार्य-विशेष किस क्रम से प्रारम्भ होते हैं।

**१५. चारित्रमोहक्षपणा अधिकार**—चारित्र मोहकर्म की प्रकृतियों का क्षय किस क्रम से होता है, किस प्रकृति के क्षय होनेपर कहां कितना स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व रहता है, इत्यादि अनेक आन्तरिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मविशेषों का इस अधिकार में बहुत गहन, सूक्ष्म एवं अद्वितीय विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्त में बतलाया गया है कि जब तक यह जीव कषायों का क्षय हो जानेपर और वीतराग दशा के पालने पर भी छद्मस्थ पर्याय से नहीं निकलता है, तब तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म का नियम से वेदन करता है। तत्पश्चात् द्वितीय शुक्लध्यान से इन तीनों घातियाकर्मों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही समूल नाश करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्तवीर्यशाली होकर धर्मोपदेश करते हुए वे आर्यक्षेत्र में आयुष्य के पूर्ण होने तक विहार करते हैं।

मूल कसायपाहुडसुत्त यही पर समाप्त हो जाता है। किन्तु इस के पश्चात् भी वीतराग केवली के चार अघातिया कर्म शेष रहते हैं, उनकी क्षपणविधि बतलाने के लिए चूर्णिकार ने पश्चिम स्कन्ध अधिकार कहा।

**पश्चिम स्कन्ध-अधिकार**—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी सयोगी जिन अपनी आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर पहले आवर्जित करण करते हैं और तृतीय शुक्ल ध्यान का आश्रय लेकर केवलि समुद्घात करते हैं। इस समय दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के द्वारा नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा करके उनकी स्थिति को अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कर देते हैं। पुनः चौथे शुक्ल-ध्यान का आश्रय लेकर योग निरोध के लिए आवश्यक सभी क्रियाओं को करते हुए अयोगी जिनकी दशा का अनुभव कर शरीर से मुक्त हो जाते हैं और सदा के लिए अजर-अमर बन जाते हैं।

**उपसंहार**—इस प्रकार इस सिद्धान्त ग्रन्थ में यह बतलाया गया है कि यह जीव अनादि काल से कषायों से भरा हुआ चला आ रहा है और निरन्तर उन्हींके उदय से प्रेरित होकर, आत्म स्वरूप से अनभिज्ञ रह कर और पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके राग-द्वेष किया करता है। जब यह संसारी प्राणी राग-द्वेष को दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा, तब तक उस का संसार से उद्धार नहीं हो सकता। राग-द्वेष के उत्पादक कषाय है। कषाय की जातियां चार हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्याना-वरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व की घातक है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय देश संयम की घातक है, प्रत्याख्यानावरण कषाय, सकल संयम की घातक है और संज्वलन कषाय यथाख्यात संयम की घातक है। यतः अनन्तानुबन्धी कषाय का घातना दर्शन मोह के अभाव किये बिना संभव नहीं है, अतः सर्व प्रथम जीव को मिथ्यात्वरूप अनादि-कालीन दर्शन मोह के अभाव के लिए प्रयत्न करना पडता है। यह प्रयत्न तभी संभव है, जब कि कषायों का उदय मन्द हो; क्यों कि कषायों के तीव्र उदय में जीव की मनोवृत्ति अत्यन्त क्षुब्ध रहती है। यही कारण है कि प्रधान रूप से सम्यक्त्व का घातक दर्शन मोह के होने पर भी अनन्तानुबन्धी कषाय को भी सम्यक्त्व का घातक कहा गया है।

**सम्यक्त्व के तीन भेद हैं**—औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व। प्रथम दोनों सम्यक्त्व उत्पन्न होकर छूट जाते हैं, अतः सम्यक्त्व के स्थापित्व के लिए उसकी घातक दर्शनमोह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिक और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का घात करके क्षायिक सम्यक्त्व का पाना आवश्यक होता है। इसे पालने के बाद जीव अधिक से अधिक तीसरे या चौथे भव में अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही चारित्रमोह की क्षपणा का अधिकारी है, अतः वह सकल संयम धारण कर और सातिशय अप्रमत्त संयत होकर क्षपक श्रेणीपर चढते हुए क्रमशः अन्तर्मुहूर्त में ही अपूर्व करण गुणस्थान में प्रथम शुक्ल ध्यान के आश्रय से प्रति समय असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता हुआ अनिवृत्ति करण गुणस्थान में चारित्रमोह की सूक्ष्म लोभ के अतिरिक्त सर्व प्रकृतियों का क्षय कर दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का भी क्षय कर क्षीणमोही बन जाता है और एक ही अन्तर्मुहूर्त में शेष अघातित्रिक का भी क्षय कर वीतराग सर्वज्ञ बन जाता है। पुनः तेरहवें गुणस्थान के अन्त में केवलि-समुद्घात कर सर्व कर्मों की स्थिति समान कर के योग-निरोध कर अयोगी बन कर और सर्व कर्मों से विमुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूपी बन नित्य निरंजन सिद्ध हो जाता है।

---

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org